शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
Vol. 9, Issue 3, pp (217-224), Month: Sep. 2018

कुमाऊँ में बलि–प्रथा का अस्तित्व

डॉ0 संजय कुमार पन्त
एसो0 प्रोफे0 एवं विभागाध्यक्ष इतिहास
के0जी0के0 महाविद्यालय, मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश
ईमेलः 13sanjaypant@gmail.com

सारांश

मानव के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि मानव सदा से ही नियति द्वारा घटित होने वाली घटनाओं से जहाँ एक ओर प्रभावित रहा है तो वहीं दूसरी ओर आश्चर्य चकित भी। इस आश्चर्यजनित प्रभाव के कारण ही उसने प्रकृति के विभिन्न दृष्टांतों को देवी–देवता मानकर मूल्यवान से मूल्यवान वस्तु अर्पित करने की परम्परा डाल दी। बलि–प्रथा भी इसी का अंग प्रतीत होती है। सिन्धु सभ्यता के निवासी या कोल जाति ने इसका श्रीगणेश किया होगा। आर्य जाति के सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ, ऋग्वेद में भी बलि का उल्लेख प्रथम दिव्य पुरुष की बलि के रूप में प्राप्त होता है। ऐतिहासिक युग में भी इसके प्रमाण देखे जा सकते हैं। यह तो मानना ही होगा कि इस प्रकार की बलि–प्रथा का मुख्य उद्देश्य या कारण सुख–समृद्धि की आशा या वरदान की प्राप्ति ही रहा है। भय व आशंका के भाव ने इसे और भड़काया, जिसे हम मतृक सम्बन्धी विवरणों में पा सकते हैं, जो वर्तमान में गोदान के रूप में प्रचलित है। कुमाऊँ का ऐतिहासिक मूल्यांकन यहाँ पर उक्त कारकों को ही बलि–प्रथा के लिए उत्तरदायी सिद्ध करता है।

यह उल्लेखनीय है कि कुमाऊँ में नर–बलि प्रथा, जो ब्रिटिश शासन के पूर्व तक विद्यमान थी, वर्तमान में नहीं है परन्तु स्थानीय देवी–देवताओं, भटकती आत्माओं एवं भूत–प्रेतादि को दी जाने वाली बकरे एवं कुक्कुट की बलि एवं वैदिक यज्ञ–याज्ञ में दी जाने वाली बकरे की बलि के रूप में आज भी बलि–प्रथा विद्यमान है। माननीय उच्चतम न्यायालय नैनीताल के निर्णय से पूर्व तक मंदिर में ही बलि दी जाती थी परन्तु अब मंदिर प्रांगण से दूर इतर में बलि दी जाती हैं। इन दोनों रूपों में पुरोहित वर्ग का विशेष हाथ विद्यमान है। कुछ देवियों के मन्दिरों में भैंसे की बलि का भी विधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमाऊँ की साधना–पद्धति में वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक व शाक्त पद्धतियों का विशेष समावेश है। आज कुमाऊँ का सामान्य जनमानस इसके लौकिक महत्व को अपने लक्ष्यों की सफलता, न्यायाधिकरण की सफलता के रूप में ही नहीं देखता, अपितु इसके शास्त्रीय महत्व को स्वीकार करता है, जिसका कारण उसे मिले इसके स्पष्ट प्रमाण कहे जा सकते हैं।

यह ठीक है कि अहिंसावादी विचारधारा इन आस्थाओं को कोई महत्व नहीं देती है और इसे कभी मान्यता नहीं प्रदान करती है परन्तु कुमाऊँ का जनसाधारण इसकी वैधता को अपनी आस्थाओं एवं विश्वास के कारण स्वीकार करता है एवं पुष्टि में उसे मिले प्रमाण प्रस्तुत करता

है। ऐसा प्रतीत होता है कि यही कारण रहा होगा कि 'वैदिकी–हिंसा हिंसा न भवति' कहने वाले को भी उक्त संदर्भ में कुछ सोचना पड़ा था।

प्रस्तावना

महान फ्रांसीसी दार्शनिक वाल्टेयर का कथन, ''यदि किसी देश या क्षेत्र को यथोचित रूप से जानना हो तो वहाँ के सांस्कृतिक इतिहास का अवलोकन करना चाहिए,'' भारत के सांस्कृतिक इतिहास की ओर सहज ही आकर्षण पैदा करता है। यह सत्य है कि विश्व के सांस्कृतिक इतिहास के रंगमंच में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का विशिष्ट स्थान है, परन्तु इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस विशिष्टता का आधार यहाँ की संस्कृति में पाई जाने वाली विविधता में एकता है। क्षेत्रीय सांस्कृतिक परम्पराओं ने इसे अपने विभिन्न मनोहारी रंगों से सजाकर मनोहारी चित्र के रूप में प्रस्तुत किया है।

भारत के उत्तरांचल राज्य के उत्तर में स्थित, ऋषि मनीषियों की तपस्थली, देवतात्मा एवं नगाधिराज जैसे शब्दों से विभूषित[1] हिमालय की सुरम्य पर्वत श्रृंखलाओं की उपत्यका में बसा अपनी सौन्दर्यता, रमणीकता एवं स्वच्छन्दता के लिए विख्यात कुमाऊँ भी अपनी मान्यताओं एवं परम्पराओं के कारण सांस्कृतिक दृष्टि से उक्त कथन का अपवाद नहीं कहा जा सकता है।

संस्कृति एवं सभ्यता की जननी मान्यताओं एवं परम्पराओं के सन्दर्भ में यह कहना अपेक्षित होगा कि मान्यतायें या परम्परायें दीर्घकाल से चले आ रहे जन–विश्वास का परिणाम होती हैं। उनके स्वरूप एवं प्रकृति में समय–समय पर परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहता है। कुमाऊँनी संस्कृति में कुमाऊँ में प्रविष्ट होने वाली विभिन्न जातियों–कोल, मुण्ड, शबर, किरात, शक, थारू, बोक्सा, भोटिया, नाग, गन्धर्व, हूण, आर्य तथा बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित वैदिक सभ्यता के परिष्कृत रूप का सम्मिश्रण पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के साथ दृष्टिगोचर होता है। पुरातात्विक साक्ष्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि इस क्षेत्र का अति प्राचीनकाल से ही मानव जाति से सम्बन्ध रहा है।[2] भारतीय संस्कृति की सामंजस्यवादी, प्रवृत्तिपरक एवं अनुसरणवादी प्रवर्षत्ति से ओत–प्रोत यहाँ के समाज ने सभी जातियों की परम्पराओं एवं मान्यताओं को सहजता से स्वीकार किया और ये इस प्रकार घुल–मिल गई कि इन्हें अलग कर पाना अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है। एक दूसरे की धार्मिक परम्पराओं, रीति–रिवाजों, देवी–देवताओं का अस्तित्व इस प्रकार मिला प्रतीत होता है कि स्पष्ट विभेद कर पाना सामान्य के वश की बात नहीं है।

धार्मिक पद्धति की प्रणाली के अनुसरण के क्रम में पूजन– विधियों का सम्मिश्रण भी महत्वपूर्ण था। इसमें विशेष पूजनविधि बलि– प्रथा के भी दर्शन होते हैं। भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भारत में आर्य जाति के आगमन से पूर्व आर्येतर जातियों में बलि–पूजा की प्रथा विद्यमान थी।[3] खड़ी अनगढ़ शिलाओं में विभिन्न देवी–देवताओं के लिंग की कल्पना कर पूजा की प्रथा कोल जाति की देन मानी जाती है।[4] इस जाति का विश्वास था कि शिला– लिंग को बलि–पशु के रूधिर से स्नान कराने से देवी–देवता संतुष्ट होकर कामनाओं

की पूर्ति करते हैं और सुख–सम्पदा की प्राप्ति होती है। देवलिंग या देवमूर्ति को, बलि पशु के रक्त से अथवा सिन्दूर से रंजित करने की प्रथा कुमाऊँ में दर्षष्टिगोचर होती थी।[5] कुमाऊँ में पाई जाने वाली अष्टबलि प्रथा[6] कोल जाति की ही देन मानी जा सकती है। माननीय उच्च न्यायालय नैनीताल के निर्णय से पूर्व तक यह प्रथा यथावत थी परन्तु वर्तमान में मंदिर प्रांगण से दूर इतर में अब भी बलि प्रथा विद्यमान है।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि आर्यो में बलि प्रथा पूर्व से विद्यमान थी अथवा यह आर्येत्तर जातियों के सम्पर्क का परिणाम थी। आर्य समाज के विद्वानों ने वैदिक ग्रन्थों में बलि के दार्शनिक तथ्य को प्रकट किया है, परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि वैदिक काल में बलि प्रथा का अस्तित्व था ही नहीं। आदि पुरुष की स्तुति में प्रथम सांसारिक बलि का स्पष्ट प्रमाण है।[7] वैदिक ग्रन्थ इस बात का भी स्पष्टीकरण करते हैं कि बलिदान की प्रथा ने कर्मकाण्डीय यज्ञ का रूप धारण किया। इन कर्मकाण्डीय यज्ञों में पशु की बलि देकर सुख–समृद्धि की आशा की जाने लगी। राजवंशों में अर्थात् सामूहिक रूप से बलि प्रथा के उत्कृष्ट उदाहारण अश्वमेध यज्ञ के रूप में प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद प्रथम मण्डल की एक सौ बासठ व एक सौ चौसठ ऋचाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इन ऋचाओं की रचनाओं के पूर्व भी अश्वमेध यज्ञ का प्रचलन था। पाण्डवों द्वारा भी अश्वमेध यज्ञ में तीन सौ पशुओं की बलि का उल्लेख है।[8] पुष्यमित्र शुंग ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे।[9] समुद्रगुप्त के अश्वमेध प्रकार के सिक्के[10], एरण अभिलेख[11] तथा प्रयाग प्रशस्ति[12] इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि उसने अश्वमेध यज्ञ किया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि बलिदान के पीछे ईश्वर को संतुष्ट कर वरदान प्राप्ति की भावना रही होगी। यही कारण है कि ब्राह्मणों द्वारा कुछ देवी–देवताओं को रक्त–पिपासु तथा मांस–भक्षी बतलाया है। वरदान की प्राप्ति हेतु स्वयं के बलिदान तक के तथ्य सामने आये हैं।[13] ऐसा प्रतीत होता है कि देवी या देवता को स्वयं का मोह त्यागकर स्वयं का बलिदान करने की प्रथा वरदान प्राप्ति का कारण रही होगी।

कुमाऊँ का सर्वेक्षण भी इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि यहाँ के जनमानस पर इस धारणा का पर्याप्त प्रभाव है कि पशुबलि के आयोजन से सुख–समृद्धि की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि मनोकामनाओं की पूर्ति एवं देवी–देवताओं से वरदान की प्राप्ति के लिए ईष्टदेव या स्थानीय देवी–देवताओं के मन्दिरों में प्रांगण पर लाकर कुछ दूर बलिदान किया जाता है।[14]

धार्मिक विधि के मूल में भय एवं आशंका के भाव विद्यमान होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बलिदान के पीछे देवता विशेष से अनिष्ट की आशंका रही होगी, ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने इसे अपने हाथों में लेकर स्थायित्व प्रदान किया। उन्होंने उन धार्मिक–क्रियाओं को जन्म दिया, जिसके आधार पर इस बात को कहा गया कि बलिदान से देवी–देवताओं को बलिदान–स्थल पर बुलाया जा सकता है। वर्तमान में कुमाऊँ में इस धारणा का पूर्ण प्रभाव पाया जाता है क्योंकि यहाँ मान्यता है कि यदि प्रत्येक शुभ कार्य के पश्चात् स्थानीय देवी– देवताओं को बलि न दी गई तो अनिष्ट की आशंका रहती है।[15]

कुमाऊँ के सामाजिक इतिहास विषयक ग्रन्थ कुमाऊँनी बलि प्रथा के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डालते हैं, परन्तु कतिपय पहलुओं का स्पष्टीकरण अवश्य करते हैं, जिसमें नर–बलि प्रथा महत्वपूर्ण है। यदि हम प्राचीन परम्पराओं एवं मान्यताओं का अवलोकन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि हिमालय की अति प्रसिद्ध देवी नयना को नर–बलि देने की प्रथा थी। ब्रिटिश राज्य के कुमाऊँ में शासन करने से पूर्व यह प्रथा बहुत प्रचलित थी, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने प्रति बारहवें वर्ष होने वाली इस नर–बलि प्रथा को बन्द कर दिया।[16] एटकिन्सन ने लिखा है कि तल्लादास में पुण्यागिरि, गंगोलीहाट में हाट तथा कत्यूर में रचूलाकोट अपने भयंकरतम रूप में प्राचीन समय में गुप्त रूप से मानव– बलि के स्थल के रूप में प्रसिद्ध था।[17] कालिका पुराण का अध्ययन भी निर्देशित करता है कि काली देवी को नर–बलि दी जाती थी और इसका रक्त एक हजार वर्ष तक देवी को प्रसन्न रखता था। वर्तमान में साम्यकी दृष्टि से पुण्यागिरि और गंगोलीहाट महाकाली के मंदिर में मानव–बलि में प्रयुक्त होने वाला बलि–अस्त्र अभी भी सुरक्षित है। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि एक समय विशेष रूप से हिमालय के दुर्गम स्थानों में निवास करने वाली जातियों में देवी को नर–बलि देने की प्रथा अवश्य रही होगी, परन्तु वर्तमान में इस प्रकार की नर–बलि की प्रथा दृष्टिगोचर नहीं होती है।[18]

वर्तमान में कुमाऊँ में बलि–प्रथा का अस्तित्व व्यापक रूप से दो रूपों में दृष्टिगोचर होता है, प्रथम, स्थानीय देवी देवताओं, भटकती आत्माओं, या भूत–प्रेतादि को दी जाने वाली पशु–बलि के रूप में और द्वितीय, वैदिक यज्ञ–याज्ञ के पश्चात् दी जाने वाली बलि के रूप में। इन दोनों प्रकार की बलिदान से सम्बन्धित जानकारी कुमाऊँ के पुरोहितों और जन साधारण के द्वारा मान्यता प्राप्त धार्मिक पुस्तकों एवं इन आधार पर आधारित बलिदान के दृश्यों से पर्याप्त रूप से होती है।

उक्त दोनों रूपों में प्रथम का अस्तित्व व्यापक रूप से परिलक्षित होता है, जिसमें प्रायः बकरे की बलि का अधिक प्रचलन है। कुमाऊँ के कुछ मन्दिरों में भैंसे की बलि का भी प्रचलन है।[19] मतृक की आत्मा की संतुष्टि अथवा भूत–प्रेतादि से छुटकारा पाने के लिए दी जाने वाली बलि अधिकांशतः रात्रि के अन्धकार में ही दी जाती है।[20]

दूसरे प्रकार की बलि में आज भी ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व है। अधिकांशतः धनी वर्ग द्वारा वैदिक यज्ञ–याज्ञ की तैयारी की जाती है, व्यस्तता के कारण वैदिक रूप से बलि–प्रथा का अस्तित्व वर्तमान में क्षीण हो गया है और बहुत कम दृष्टिगोचर होता है।[21]

बलिदान के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक कुमाऊँनी हिन्दू बलिदान करता है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। पशु–बलि को निरर्थक मानने वाले वैष्णव भी बलि के रूप में नारियल या फल देवी या देवता के अर्पित करते हैं, परन्तु उनकी भावना में बलि की ही प्रधानता रहती है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि कुमाऊँ की साधना पद्धति जहाँ वैदिक संस्कृति एवं पौराणिक संस्कृति को स्पष्ट करती है तो वहीं वह तन्त्र विचारधारा से भी प्रभावित है। अतः यहाँ बलिदान द्वारा देवी–देवताओं की संतुष्टि का अत्यधिक महत्व स्वीकार किया गया है।

वास्तव में मनुष्य ने अपने ऊपर एक ऐसी शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है जिसके

ऊपर वह निर्भर रह सकता हो, प्रबल अभिलाषा रखता हो, जो उससे कहीं अधिक शक्तिशाली हो और जिसकी वह पूजा कर सके।[22] मानव की देवता–परक भावना विश्वास एवं आस्था पर आधारित होती है। संस्कृत में एक उक्ति भी प्रचलित है –

मन्त्रे, तीर्थे, द्विजे, देवे, दैवज्ञे धोषजे गुरौ ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।।[1]

वस्तुतः महत्व किसी साधन का नहीं होता वरन् साधन पर की गई आस्था एवं विश्वास का होता है। कुमाऊँ की बलि–पूजा में आस्था एवं विश्वास की जड़ें बहुत गहरी हैं। आस्था एवं विश्वास की सफलता उनकी धारणा को अधिक दष्ढ़ता प्रदान करती है। जब विभिन्न औषधि–उपचारों से रोग–निवारण सम्भव नहीं हो पाता है तब किसी ओझा या अभिचारक द्वारा किये गये प्रश्न के आधार पर किसी अदृश्य शक्ति या किसी देवी–देवता का प्रकोप अथवा जादू–टोना किया हुआ बताये जाने पर उस अदष्श्य शक्ति की संतुष्टि हेतु बकरा या कुक्कुट का बलि विधान सफलता भी प्रदान करता है।[23] यहाँ तक कि किसी अन्याय के शमन के लिए या अत्याचार के दमन के लिए कुमाऊँ की आस्था एवं विश्वास अपनी दीन पुकार लेकर किसी न्यायालय में न जाकर अपने आराध्य गोलू देवता, हाट की काली, कोटगढ़ी जैसे अन्यायनिवारक शक्ति–पीठों में अथवा अपने स्थानीय देवी–देवताओं के मन्दिर में जाती है और वहाँ न्याय की याचना करती है।[24] चितई के गोलू देवता के मन्दिर में स्थित अनेक घण्टियाँ इसके प्रमाण हैं। गंगोलीहाट की महाकाली की ख्याति सम्पूर्ण कुमाऊँ के मनमानस पर अंकित है। इन सभी देवी–देवताओं के न्यायाधिकरण में पहुँचने के लिए कुमाऊँ में जो बलि–प्रथायें हैं, उनका महत्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है।

वास्तव में बलि–प्रथा का लौकिक महत्व ही नहीं अपितु शास्त्रीय महत्व भी प्रतिपादित किया गया है। ये प्रथायें केवल लोकगाथाओं और जन आस्थाओं पर ही निर्भर नहीं हैं, वरन् इनके शास्त्रीय स्वरूप को भी मान्यता दी गई है। शास्त्रों में प्रसिद्ध पौराणिक देवी–देवताओं की प्रसन्नता के लिए अथवा अभीष्ट की प्राप्ति के लिए बलिदान का विधान है। गोलू देवता को शंकर का ही स्थानीय परिवर्तित रूप माना जाता है।[25] अन्य शक्तिपीठों में जो शास्त्र निहित शक्तिपीठ है, वहाँ भी बलि–पूजा होती है और जिनका महत्व लौकिक आस्था के साथ शास्त्रीय भी है।

इतना सब कुछ होते हुए भी अहिंसावादी विचारधारा इन आस्थाओं तथा विश्वासों को महत्वहीन समझती है। जिस प्रकार वैदिक युग के यज्ञ विधान के विरोध में उपनिषदों की विचारधारा पनपी उसी प्रकार बलि–प्रथा का विरोध कर कुमाऊँनी जनमानस का अहिंसावादी विचारधारा वाला एक भाग इसे आडम्बर, मिथ्याधारण और अन्धविश्वास भी कह रहा है। प्रतीत होता है कि पूर्व में भी–

अश्वं नैव गजं नैव सिंह नैव–नैव–च ।
अजा पुत्र बलिदधात् देवो, दुर्बल घातकः ।।

की विचारधारा ने बलि–प्रथा को केवल एक शक्ति द्वारा स्थापित की गई बर्बर प्रथा ही स्वीकार किया है। यही कारण है कि बलि–पूजा का महत्व कितना ही क्यों न हो, किसी भूभाग

में उसे कितनी ही मान्यता क्यों न प्राप्त हो, अहिंसावादी विचारधारा न तो इसे स्वीकार करती है और न ही उचित मानती है। विश्व के इतिहास में न जाने, कितने बर्बर काण्ड हुए और होते रहेंगे, परन्तु अहिंसावादी चेतना उन्हें कभी मान्यता प्रदान नहीं करती है।

किन्तु जहाँ तक कुमाऊँ के जनसाधारण में इस प्रथा की विचारधारा है, जनसाधारण का दावा है कि यदि नित्यप्रति बूचड़खानों में, असंख्य पशुओं की हत्या एवं रक्षा विभाग में तीन दिन मीट डे को मान्यता दी जा सकती है तो भावनाओं, विश्वासों, एवं आस्थाओं के वशीभूत होकर दी जाने वाली बलि पर आक्षेप करना निरर्थक होगा, मन्दिर की पवित्रता जैसे प्रश्नों पर यहाँ का जनसाधारण ईश्वर की सर्वव्यापकता की ओर सहजता से संकेत कर देता है।[26]

इस प्रकार मानव के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि मानव सदा से ही नियति द्वारा घटित होने वाली घटनाओं से जहाँ एक ओर प्रभावित रहा है तो वहीं दूसरी ओर आश्चर्य चकित भी। इस आश्चर्यजनित प्रभाव के कारण ही उसने प्रकृति के विभिन्न दृष्टांतों को देवी–देवता मानकर मूल्यवान से मूल्यवान वस्तु अर्पित करने की परम्परा डाल दी। बलि–प्रथा भी इसी का अंग प्रतीत होती है। सिन्धु सभ्यता के निवासी या कोल जाति ने इसका श्रीगणेश किया होगा। आर्य जाति के सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ, ऋग्वेद में भी बलि का उल्लेख प्रथम दिव्य पुरुष की बलि के रूप में प्राप्त होता है। ऐतिहासिक युग में भी इसके प्रमाण देखे जा सकते हैं। यह तो मानना ही होगा कि इस प्रकार की बलि–प्रथा का मुख्य उद्देश्य या कारण सुख–समृद्धि की आशा या वरदान की प्राप्ति ही रहा है। भय व आशंका के भाव ने इसे और भड़काया, जिसे हम मतृक सम्बन्धी विवरणों में पा सकते हैं, जो वर्तमान में गोदान के रूप में प्रचलित है। कुमाऊँ का ऐतिहासिक मूल्यांकन यहाँ पर उक्त कारकों को ही बलि–प्रथा के लिए उत्तरदायी सिद्ध करता है।

यह उल्लेखनीय है कि कुमाऊँ में नर–बलि प्रथा, जो ब्रिटिश शासन के पूर्व तक विद्यमान थी, वर्तमान में नहीं है परन्तु स्थानीय देवी–देवताओं, भटकती आत्माओं एवं भूत–प्रेतादि को दी जाने वाली बकरे एवं कुक्कुट की बलि एवं वैदिक यज्ञ–याज्ञ में दी जाने वाली बकरे की बलि के रूप में आज भी बलि–प्रथा विद्यमान है। इन दोनों रूपों में पुरोहित वर्ग का विशेष हाथ विद्यमान है। कुछ देवियों के मन्दिरों में भैंसे की बलि का भी विधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमाऊँ की साधना–पद्धति में वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक व शाक्त पद्धतियों का विशेष समावेश है। आज कुमाऊँ का सामान्य जनमानस इसके लौकिक महत्व को अपने लक्ष्यों की सफलता, न्यायाधिकरण की सफलता के रूप में ही नहीं देखता, अपितु इसके शास्त्रीय महत्व को स्वीकार करता है, जिसका कारण उसे मिले इसके स्पष्ट प्रमाण कहे जा सकते हैं।

यह ठीक है कि अहिंसावादी विचारधारा इन आस्थाओं को कोई महत्व नहीं देती है और इसे कभी मान्यता नहीं प्रदान करती है परन्तु कुमाऊँ का जनसाधारण इसकी वैधता को अपनी आस्थाओं एवं विश्वास के कारण स्वीकार करता है एवं पुष्टि में उसे मिले प्रमाण प्रस्तुत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यही कारण रहा होगा कि 'वैदिकी–हिंसा हिंसा न भवति' कहने वाले को भी उक्त संदर्भ में कुछ सोचना पड़ा था।

संदर्भ

1. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः । पूर्वापरौ तोय निधीयग्राह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।। कालिदास–कुमार संभव, सर्ग 1, श्लोक 1, सम्पादक–चतुर्वेदी, सीताराम, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, संवत् 2019 वि.
2. चंडेश्वर में अनेक शिलायें खड़ी हैं, जिनके सिरों को बड़े परिश्रम से पूर्णतः शिशन का स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया है। निकट की एक शिला में वृत्ताकार अंकन मिलते हैं, जिनका सम्बन्ध योनि लिंग प्रतीकों से जोड़ा जा सकता है। डबराल, एस.पी. – उत्तराखंड का इतिहास, भाग–एक, पृ0–60, वीरगाथा प्रकाशन, दोगड्डा, पौढ़ी गढ़वाल (1965 ई0 से 1970 ई0 तक)
3. हड़प्पा सभ्यता एवं कोल जाति इसके प्रमुख साक्ष्य है।
4. मजूमदार एवं पुलसकर, वैदिक एज, पृ0 152 जार्ज ऐलन एंड अनबिल लि0, 1952
5. पिथौरागढ़ जनपद में स्थित गंगोलीहाट महाकाली के मंदिर, पुण्यागिरी के मंदिर, अल्मोड़ा व नैनीताल में नन्दा देवी के मन्दिर इसके प्रमाण हैं।
6. अष्टबलि में मत्स्य, केकड़ा, कुक्कुट, भैंसा, बकरा, मेढ़ा, कूष्माण्ड और नारियल की बलि दी जाती है।
7. ऋग्वेद, मण्डल 10, सूक्त 90, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1962
8. काणे, पी. वी.–धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ0–569, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1930
9. अयोध्या अभिलेख – 'कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुण्यमित्रस्य'– उपाध्याय, वासुदेव–प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ0–25, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1961
10. गुप्त, पी. एल.–गुप्त साम्राज्य, पृ0–62, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1970
11. (11) हस्त्य श्व–रत्न–धन– धान्य–समृद्धियुक्ता ।।
    (14) यस्योर्न्नितं समरकर्म्म पराक्रमेद्धं
    (15) पृथ्व्यां यशः सुविपुलम्परिम्भृमीति ।।– उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, पृ0 50, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1961
12. समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित 'अनेक गो सहस्त्र प्रदायिन' के आधार पर माना जाता है कि उसने अश्वमेध यज्ञ किया था और उस समय सहस्त्रों गाय दान में दी थी।
13. ऐडा के बुडन देवता ने जादुई शक्ति की प्राप्ति हेतु स्वयं का बलिदान किया था। रावण ने वरदान प्राप्ति हेतु दश शीशों का बलिदान किया था।
14. कुमाऊँ के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न लोगों से लिये गये साक्षात्कार के आधार पर
15. पूर्वोक्त

16. डबराल, एस.पी. – उत्तराखंड यात्रा दर्शन, पृ. 315–16, विशाल कार्यालय, गढ़वाल, 1961
17. एटकिन्सन – दि हिमालयन गजेटियर, भाग–2 का द्वितीय भाग, पृ0–866 गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, 1984
18. कुमाऊँ के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न लोगों से साक्षात्कार के आधार पर ।
19. पिथौरागढ़ के उल्का देवी के मन्दिर में मोछीटोला के हरिजन नवरात्रियों में मंदिर प्रांगण से दूर भैंसे की बलि देते हैं।
20. कुमाऊँ के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न लोगों से लिये गये साक्षात्कार के आधार पर ।
21. वही
22. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली–भारतीय दर्शन, भाग 1, पृ0 89–राजस्थान एंड संस, 1969
23. (अ) ग्राम दशौली, डीडीहाट निवासी श्री चन्द्रशेखर पाठक के साथ 1976–77 में एक ऐसी घटना घटी जबकि विभिन्न औषधियों के प्रयोग से उनका उपचार सम्भव न हो सका, किन्तु गंग नाथ देवता का प्रकोप बताये जाने पर गंग नाथ देवता की बलि–पूजा से वे स्वस्थ हो गये।

23. (ब) कनालीछीना (पिथौरागढ़) निवासी श्री देवीदत्त जोशी के साथ 1979–80 में ऐसी घटना घटी जबकि विभिन्न औषधियों के प्रयोग से उनका उपचार सम्भव न हो पाया तब वेताल देवता की पूजा से उपचार संभव हो सका। वर्तमान में श्री देवीदत्त जोशी, पीली कोठी हल्द्वानी में डेनिस फार्मास्युटिकल्स नाम से अपनी अंग्रेजी दवा की दुकान चला रहे हैं।

24. कुमाऊँ के विभिन्न स्थानों में विभिन्न लोगों से साक्षात्कार के आधार पर।
25. पूर्वोक्त
26. पूर्वोक्त